



INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

पहचान संकट: एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

डॉ. एस. रूपेन्द्र राव

विभागाध्यक्ष

मनोविज्ञान विभाग

सुंदरलाल शर्मा (मुक्त) विश्वविद्यालय

छ.ग., बिलासपुर

सारांश

सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य की पहचान आदिकाल से मानी जाती रही है। किंतु सामाजिक जीवन और वैश्विक परिदृश्य में एक विशेष संस्कृति समाज या समूह के सदस्य के रूप में भी उसकी एक पहचान होती है, भारतीय संस्कृति में समाज, राष्ट्र, संस्कृति के साथ-साथ व्यक्तिगत पहचान को भी महत्व दिया गया है। महान संस्कृति से उस समूह की पहचान और श्रेष्ठ व्यक्तित्व से एक गौरवशाली राष्ट्र या संस्कृति की पहचान परस्पर पूरक रहे हैं।

विकास से तात्पर्य समय बीतने के साथ परिपक्वता या पर्यावरण के साथ होने वाले अंतःक्रिया (intraaction) के परिणाम स्वरूप व्यक्ति के वर्धन तथा क्षमता में होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया से होता है। आत्म-संप्रत्यय या व्यक्तिगत पहचान से तात्पर्य उस तथ्य से होता है जिसमें व्यक्ति यह समझता है कि वह कौन है तथा वह क्या है। यह व्यक्ति द्वारा किए गए अपनी भूमिकाओं, दूसरों के साथ संबंधों तथा उसक प्रति दूसरों द्वारा किए गए प्रतिक्रियाओं द्वारा मूलतः निर्धारित होता है। एक व्यक्ति परिवार, समाज, राष्ट्र, सृष्टि, परमेश्वर सभी का अंग है परंतु कोई भी समूह, समाज या राष्ट्र नहीं होता है, जब एक समूह लंबे समय तक साथ-साथ रहता है तो उसकी आदतों से विशेष पद्धतियां, सोचने या विचार करने की विशेष प्रणाली निर्मित हो जाती है। वह एक सीमा तक समाज या राष्ट्र होती है।

राष्ट्रीय पहचान के रूप में व्यक्तिगत पहचान, संस्कृति तथा धर्म के महत्वपूर्ण तत्वों एवं आज के समय में पहचान संकट के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विभिन्न पक्षों को उजागर करना ही प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य है।

संकेत शब्दः— पहचान संकट, मनोवैज्ञानिक पक्ष, राष्ट्र, संस्कृति आदि।

भूमिका –

भारतीय संस्कृति मनुष्य के विचारों एवं व्यवहारों के प्रतिमान को इंगित करती है। इसके अंतर्गत मूल्य, विश्वास, आचार संहिता राजनीतिक प्रतिमान तथा आर्थिक संगठन भी शामिल है। संस्कृति के ये तत्व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक औपचारिक एवं अनौपचारिक प्रक्रियाओं द्वारा स्थांतरित किए जाते हैं। संस्कृति समाज के सदस्य के रूप में हमारे विचार और कार्य (चिंतन एवं व्यवहार) के तरीकों का समुच्चय है। फलस्वरूप सामूहिक जीवन की समस्त उपलब्धियों को सम्मिलित रूप से संस्कृति कहा जाता है। सभ्यता समाज का संगठित पक्ष है जो संस्कृति की दशाओं का निर्माण करती है। संस्कृति इसी सभ्यता रूपी संगठन की उपज है जो भाषा, कला, दर्शन, धर्म, सामाजिक आदतों, प्रथाओं, आर्थिक संगठन एवं राजनीतिक संस्थाओं में अभिव्यक्त होती है। समाज मनोवैज्ञानिकों ने भी संस्कृति का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से बताया है। सार्टेन, नार्थ, स्ट्रेन्ज तथा चैपमैन (1973) के अनुसार "संस्कृति से हम लोगों का अभिप्राय उन खास तरीकों से होता है जिनके अनुसार समाज के सदस्य व्यवहार करते हैं तथा जिसे वे नयी पीढ़ियों तक पहुंचाते हैं। संस्कृति के तत्वों में व्यक्तियों की भाषा, कौशल, कला, धर्म, नियम, प्रथा तथा भौतिक सम्पत्ति सम्मिलित होते हैं।"

संस्कृति एवं व्यक्तित्व

संस्कृति और व्यक्तित्व का संबंध काफी घनिष्ठ एवं दो तरफा है। संस्कृति व्यक्तित्व को प्रभावित करता है तथा व्यक्तित्व भी संस्कृति को प्रभावित करता है। संस्कृति का व्यक्तित्व के उपर व्यापक प्रभावों के कारण सामाजिक स्थिरता (Social stability) एवं निरंतरता (Continuity) बनी रहती है। तथा व्यक्ति का संस्कृति के ऊपर प्रभाव के कारण सामाजिक परिवर्तन (Social change) आते हैं। फ्रंच क्रेचफिल्ड तथा वैलेची "1962") ने संस्कृति एवं व्यक्तित्व के संबंधों पर टिप्पणी करते हुए कहा है, कि "संस्कृति और व्यक्ति का संबंध एक तरफा नहीं होता है बल्कि दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। संस्कृति व्यक्ति को प्रभावशाली एवं व्यापक रूप से प्रभावित करता है और इस तरह से संस्कृति की निरंतरता एवं समाज की स्थिरता को बनाए रखता है। व्यक्ति भी संस्कृति को प्रभावित करता है और इस प्रकार से सामाजिक परिवर्तन आता है।"

मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों ने संस्कृति के व्यक्तित्व पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन कर बताया कि—

1. जन्म लेते ही शिशु एक ऐसे मानव निर्मित वातावरण में प्रवेश करता है जहां कि भौतिक वस्तुएं (मकान, फर्नीचर आदि) तथा अभौतिक वस्तुएं (धर्म, प्रथा, परम्परा, विश्वास आदि) उसे घेरे रखती हैं इसी वातावरण में उसका पालन-पोषण होता है और इसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर पड़ता है।
2. प्रत्येक संस्कृति की भिन्न-भिन्न सामाजिक परिस्थितियों में व्यवहार करने के लिए कुछ मानक (norms) रीति-रिवाज तथा संस्थागत तरीके होते हैं जिसके अनुसार व्यक्ति का व्यवहार करना होता है व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन सारे तरीकों एवं व्यवहारों को सीख लेता है। यही कारण कि किसी एक

संस्कृति में पले व्यक्तियों के व्यवहारों में अधिक समानता होती है। संस्कृति किसी व्यक्ति विशेष या पांच, दस व्यक्तियों की धरोहर नहीं होती है बल्कि यह पूरे सामाजिक एवं सामूहिक जीवन को ही व्यक्त करती है। व्यक्तित्व का संस्कृति पर प्रभाव:— जिस तरह संस्कृति का व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है, उसी तरह से व्यक्तित्व का भी प्रभाव संस्कृति के विकास पर पड़ता है।

1. व्यक्ति संस्कृति में एक विशेष सृष्टि जीव (Creature) के रूप में कार्य करता है। इस तरह की भूमिका में संस्कृति के विभिन्न भौतिक तत्व तथा अभौतिक तत्वों के साथ वह अनुपालन दिखलाता है और प्रत्येक परिस्थिति में उपयुक्त ढंग से व्यवहार करने को प्रेरित रहता है।
2. व्यक्ति संस्कृति के वाहक के रूप में कार्य कर संस्कृति के तत्वों को प्रभावित करता है। वाहक के रूप में वह एक सक्रिय एवं धनात्मक भूमिका निभाता है तथा सांस्कृतिक तौर-तरीको, मूल्यों, मानकों तथा उपयोगिताओं का वर्णन दूसरों के सामने करके एक पीढ़ी से उसे दूसरे पीढ़ी तक पहुँचाता है।
3. संस्कृति के परिपालन के रूप में व्यक्ति समाज के सामान्य मनोवृत्तियों, मूल्यों, मानकों आदि का प्रयोग विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए करता है।
4. संस्कृति के सृष्टिकर्ता के रूप में व्यक्ति संस्कृति में आवश्यक परिवर्तन लाता है। तथा इसमें से अमाननीय तत्वों को बाहर निकालकर फेंक देता है।

पहचान संकट

पहचान संकट एक मनोवैज्ञानिक पक्ष है जो व्यक्ति द्वारा स्थित अवस्था में अपनी पहचान को खोजने से संबंधित है। यह आपात स्थिति से संबंधित न होकर एक सामान्य व्यक्तित्व विकास की अवस्था होती है।

“यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति एक अनिश्चितता का अनुभव करता है वह वास्तव में क्या है और उसकी जीवन के प्रति क्या भूमिका है।”

इरिक्सन के अनुसार:— “मनोवैज्ञानिक विकास की अवस्था में पहचान संकट की उत्पत्ति होती है यह किशोरावस्था में दिखती है जिसमें व्यक्ति में पहचान की भावना और भूमिका के बीच संघर्ष होता रहता है। जब व्यक्ति इसका सफलतापूर्वक समाधान कर लेता है, तो इससे उसमें एक विशेष मनो सामाजिक शक्ति विकसित होती है जिसे इरिक्सन ने कर्तव्यनिष्ठा कहा है। कर्तव्यनिष्ठा (fidelity) से तात्पर्य किशोरों में समाज के विचारधाराओं, शिष्टाचार एवं मानकों (norms)के अनुकूल व्यवहार करने की क्षमता से होता है। इरिक्सन ने इस अवस्था को व्यक्तित्व विकास का एक सार तत्व माना है।

पारंपरिक भारतीय संस्कृति एवं व्यक्तिगत पहचान

पारंपरिक भारतीय संस्कृति अपने संतुलित दृष्टिकोण एवं लोकमंगल के प्रति अपने सर्वोपरि झुकाव के कारण, सार्वभौमिकता, सर्वोदय, परोपकार, लचीलापन, उदारता, सरलता तथा सादगी जैसे मूल्यों को प्रोत्साहित करती है भारतीय संस्कृति की विशेषता जो विभिन्न समूहों में पाई जाती है।

1. वैश्विक दृष्टि:— भारतीय संस्कृति ढांचे में मानव प्राणी को ईश्वर जनित जगत की अवधारणा के संदर्भ में समझा जाता है। यह दृष्टि मनुष्य केन्द्रित न होकर सृष्टि की सभी सजीव एवं निर्जीव रचना को ईश्वरीय अभिव्यक्ति मानती है।
2. सामजस्य:— भारतीय दर्शन तथा संस्कृति आंतरिक सामजस्य एवं व्यवस्था प्राप्त करने तथा इन सब का पूरे विश्व तक विस्तार करने की कोशिश करती है भारतीय संस्कृति की मान्यता है कि प्राकृतिक वैश्विक व्यवस्था ही नैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था का मार्गदर्शन करती है। आंतरिक सामजस्य बाहरी सामजस्य का आधार है। भारतीय संस्कृति भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के बीच सामजस्य स्थापित करने की कोशिश करती है।
3. सहिष्णुता:— भारतीय संस्कृति यथार्थ में बहुआयामी पक्ष को स्वीकार करती है तथा दृष्टिकोणों, व्यवहारों, प्रथाओं एवं संस्थाओं की विविधता का स्वागत करती है।
4. कर्तव्य पर बल:— अधिकार की तुलना में भारतीय संस्कृति में धर्म या नैतिक कर्तव्य पर बल देती है। यह माना जाता है कि अपने अधिकार मांगने की तुलना में अपना कर्तव्य निभाना ज्यादा महत्वपूर्ण है।
5. निरंतरता के दायरे में परिवर्तन:— भारतीय संस्कृति ने हमेशा निरंतरता के दायरे में ही परिवर्तन को पसंद किया है यह क्रमिक परिवर्तन और सुधार की पक्षधर रही है। यहां मौलिक चिंतन में बदलाव के बदले नए और पुराने के बीच समन्वय को वरीयता दी जाती है।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त आत्मोत्सर्ग एवं बलिदान की भावना, संयुक्त परिवार का आदर्श, योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा, नृत्य, गीत एवं संगीत, अनेकता एवं बहुलता आदि विशेषताएं ही इसे श्रेष्ठ संस्कृति की पहचान दिलाती है संस्कृति और व्यक्तिगत पहचान के परिणामस्वरूप ही संस्कृति में नित नए परिवर्तन होते हैं इनमें से कुछ परिवर्तन श्रेयस्कर और मौलिक होते हैं और कुछ समय देश काल परिस्थिति के अनुसार पूर्णता बदल जाते हैं हमारी संस्कृति के अनुसार व्यक्ति और समाज का अभिन्न संबंध होते हुए भी इन दोनों की सत्ता अलग-अलग है इसलिए हमने दोनों का विचार किया। व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व की रक्षा के साथ-साथ समाज की सत्ता का भी ध्यान रखने को बताया। कब व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करता है और कब उसे समाज के उपकरण के नाते काम करना पड़ता है— इन दोनों स्थितियों में मेल बैठाने की आवश्यकता है। भारतीय मान्यता अनुसार व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करके, उसके व्यक्तित्व का संरक्षण करके, उसे विकास का पूरा अवसर दे दूसरी ओर समाज और संस्कृति का विचार करके हम सामाजिक के आधार पर अमरता को प्राप्त करें।

उपसंहार:— वैश्विक दृष्टिकोण से विचार करें तो व्यक्ति एक सामाजिक संरचना का एक

महत्वपूर्ण घटक है विभिन्न समाज मिलकर एक संस्कृति या परम्परा का निमाण करते है विभिन्न संस्कृतियों के मेल से एक राष्ट्र की कल्पना साकार होती है समाज को व्यक्ति से और व्यक्ति को समाज से अलग करके पृथक रूप से पहचान नहीं दी जा सकती भारतीय मतानुसार व्यक्तिगत हितों की पूर्ति करते हुए समाज का विचार किया जाना महत्वपूर्ण है पश्चिम के अनुसार व्यक्ति ही सर्वोपरि इकाई है उसके विकास से समाज और संस्कृति का विकास होगा। हमारी सनातन संस्कृति में व्यक्तिगत जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करने की बात की गई है इस पूरी प्रक्रिया में व्यक्ति समाज संस्कृति के महत्वपूर्ण घटक के रूप में ही कार्य करता है उसकी पहचान समाज या संस्कृति की पहचान में और समाज या संस्कृति की पहचान उसके पहचान के रूप में होती है तथा यह अभिन्न घटक "महत्वपूर्ण व्यक्तित्व" के रूप में एकाकार हो जाती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ओबराय डा. हरबंश लाल (2012) "वेदांत दर्शन की वैज्ञानिकता" शिवार्चन प्रकाशन मानव प्रबोधन प्रन्यास शिवमठ, शिवबाड़ी, बीकानेर पृष्ठ-233-302।
2. गोपाल कृष्ण (2013) "भारत की संत परंपरा और सामाजिक समरसता" मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, रविन्द्र नाथ ठाकुर मार्ग, बानगंगा भोपाल म.प्र. पृष्ठ क्र-207-63।
3. सिंह अरुण कुमार एवं सिंह आशीष कुमार (2017) "व्यक्तित्व का मनोविज्ञान", मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, नई दिल्ली पृष्ठ क्र.-250-263
4. सिंह अरुण कुमार (2016) "समाज मनाविज्ञान की रूपरेखा", मोतीलाल बनारसी दास प्रकाशन, नई दिल्ली पृष्ठ-422-438।
5. शर्मा अमित कुमार (2006) "भारतीय संस्कृति का स्वरूप" कौटिल्य प्रकाशन, लाजपत नगर नई दिल्ली पृष्ठ क्र. 1-312।
6. सिंह लल्लू (2001) "एकात्म मानव दर्शन तथा पाश्चात्य चिंतन: एक विश्लेषण", अर्चना प्रकाशन दीनदयाल परिसर, महावीर नगर, भोपाल पृष्ठ क्र.-94-152।
7. उपाध्याय पं. दीनदयाल (2014) "राष्ट्र चिंतन" लोकहित प्रकाशन, लखनऊ पृष्ठ क्र. 1-121।